जैन धर्म में तप

• सौ. सुनीला नाहर

जैन संस्कृति तप प्रधान संस्कृति है। जीवन को जीवंत एवं आत्मा को तेजोमय बनाने में तप का महत्वपूर्ण स्थान है।

'तवस्सा कम्मं खवई'

तप के माध्यम से अनंत संचित कर्म क्षणमात्र में नष्ट हो सकते है। उत्तराध्ययन सूत्र में नमि महर्षि ने ब्राह्मण के रूप में परिक्षार्थ आये इंद्र से कहा-

तव नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्म-कंचुयं

तप के लोहबाण से कर्म रूपी कवच को चीरकर साधक वास्तविक विजय प्राप्त कर संसार-सागर से पार उस दिव्यलोक में पहुंच जाता है जहां आधि, व्याधि एवं उपाधि का नाम भी नहीं है। जहां सदा शाश्वत, अखंड, अविभाज्य, अलौकिक आनंद की उपलब्धि होती है। तारक प्रभु महावीर ने कहा-

एवंतु संजयस्सावि, पावकम्मं निरासवे
भव कोडि संचियं कम्मं, तवस्सा निज्जरिज्जई!!

उत्त. ३०/६

साधक साधना के क्षेत्र में बढ़ते हुए कदमों से तप द्वारा पाप कर्मों को रोक देता है तथा जो करोड़ों जन्मों के संचित कर्म व कुसंस्कार है उन्हें तपश्चर्या के द्वारा नष्ट कर देता है।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है, अहिंसा, संयम, तप यही धर्म है आत्मशुद्धि और कर्मनाश के लिए तप एक अमोघ साधन है। तप से अनेक लौकिक सिद्धियां भी प्राप्त होती है एक कवि ने कहा है।

कांतारं नं यथोतरो ज्वलयितुं, दक्षोदवाग्नि बिना। दावाग्नि न यथेतरो शमयितुं, शक्तो विनाम्भोधरम् निष्णातं पवनं बिना निर सितुं, नान्यो यथाज्म्भोधरम् कर्मोंध तपसा बिना किमंपर हर्तु समर्थों तथा

वन को जलाने में दावाग्नि के सिवा कोई अन्य समर्थ नहीं है उस दावाग्नि को मेघ बुझा देता है उस मेघ को भी वायु उड़ा देता है। इसी प्रकार तप कर्ममल को जलाता है और विषय, कषायाग्नि का शमन करता है, वायु के समान उड़ा देता है। भाव यह है कि तप से कर्ममल समूल रूप से नष्ट हो जाता है।

'तवसा परिसुज्झई' तप से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होकर आत्मा की शुद्धि होती है। तप से आत्मा के कर्मों की निर्जरा होती है। तप के लिए समय ऋतु आदि का बंधन नहीं क्योंकि तप आत्मा को आनंदित करने का हेतु है। तप तो गंगा की पवित्रतम धारा की भांति है जो सागर (मोक्ष) में मिलकर ही अपने अस्तित्व की सफलता स्वीकार करती है।

तप में एक ऐसी शक्ति है कि वह पाप से दबी आत्मा को हल्का करने की प्रक्रिया है जिस प्रकार कुंदन के प्रयोग से सोना निखरता जाता है, वह मूल रूप में आता है। उसी प्रकार अहर्निश तप का जीवन में स्वाभाविक रूप से उतर जाने के बाद वह क्षण दूर नहीं रह जाता, जब हम अपने जीवन के वर्तमान क्षण में ही चरमानंद स्थिति से सरोबार होते हुए मुक्ति के क्षणों का दर्शन कर सकें।

तप जैसा छोटा सा शब्द अपने आप में व जीवन में उतरने हेतु इतना गंभीर व रहस्यात्मक है कि जैसे अग्नि कूड़ा कर्कट के ढ़ेर को जलाकर वह जगह स्वच्छ करने में समर्थ हो जाती है। ठीक वैसे ही चंचल मन से आच्छादित अनादिकाल के क्रियाकलापों से पाप में दबी यह आत्मा को उसके सही अस्तित्व में प्रस्तुत कर उसके प्रकाश से चारों और प्रकाश्य विकीर्ण करने में समर्थ हो जाती है।

तप एक ऐसी अग्नि है जो भीतर एकत्र हुए अवांछित तत्वों को जला डालती है। परिणामत: चेतना का ऊर्ध्वारोहण होना संभावित होता है और साधक अपने जीवन में शांतिमय आनंदानुभूति में समाहित होता है। भ. महावीर का तप की ओर यही संकेत था कि अपनी जीवनीशक्ति ऊर्जा बाहर प्रवाहित न होकर अंदर ठहर जाय। अत: चेतना का अंतमुखी प्रवाह ही तप है।

तप एक ऐसा सरल नियम है जिसके सहारे हम अपनी इंद्रियों को वश में करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इंद्रिया वश में होने से मन बहिर्मुखी बनने के बजाय अंतर्मुखी बनता है। उसकी दृष्टि शनैः शनैः इतनी निर्मल होती जाती है कि आत्मा को निर्मल बनाने में अग्रसर हो जाता है।

तप का उद्देश्य है इंद्रियों की उत्तेजना पर विजय प्राप्त करना, निद्रा विजयी होना और स्वाध्याय ध्यान में निराबाध प्रवृत्त रहना। आचार्य कुंदकुंद ने यहां तक लिखा है कि "वह जैन शासन को नहीं जान सकता जो आहार विजयी, निद्राविजयी, और आसन विजयी नहीं है"। प्रमाद, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति ये पांच वृत्तियों के कारण चित्त शुद्ध नहीं रहता और अशुद्ध चित्त में परमात्मा का अवतरण नहीं होता। अत: सफलता के चरण चूमने तप की शरण में जाना नितांत आवश्यक है। जिस प्रकार घनघोर काली घटा को वायु का तीव्र झोंका बिखेर देता है उसी प्रकार तप कर्म रूपी बादल को छिन्न भिन्न कर देता है। भ. महावीर ने कहा है।

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं!
एवं दवि ओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे!!

सू.कृ. १/२/१/१५

"जिस प्रकार शकुनी पक्षी अपने पैरों को फड़फड़ा कर अपने ऊपर लगी धूल झाड़ देता है, उसी प्रकार तपस्या द्वारा मुमुक्षु अपने आत्मप्रदेशों पर लगी हुई कर्म-रज को दूर कर देता है। "तप के माध्यम से आत्मा पापों से मुक्त होती है। आत्मा पर चढ़े कर्म आवरण दूर होते है। तप के द्वारा कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाते है लेकिन तप इहलोक या श्लाघा, प्रशंसा निमित्त नहीं करना चाहिए केवल तप कर्म निर्जरा हेतु करना चाहिए।

तप को भ.महावीर ने २ भागों में विभक्त किया बाह्य-तप व आंतरिक तप। ये भेद केवल औपचारिक है। स्थूल व सूक्ष्म शरीर की भांति ये भी संयुक्त है। बाह्य तप के प्रकार में अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग, कायाक्लेश, प्रतिसंलीनता तथा आंतरिक प्रकार में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान। ध्यानाध्ययन में आचार्य जिनभद्रगणि कहते है= "मोक्ष के दो मार्ग है- संवर और निर्जरा। उनका मार्ग है तप और तप का प्रधान अंग है-ध्यान। इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।

जैन दर्शन अनुसार मोक्ष के दो हेतु है एक संवर और दूसरा निर्जरा। संचित कर्मों का आत्मा से पृथक हो जाना 'निर्जरा' है 'संवर' से यद्यपि नवीन कर्मों का आना रुक जाता है तथापि पुरातन कर्म तो आत्मा में संचित ही रहते है उनको ही दूर करने के लिए आत्मा को विशेष प्रयास करने की आवश्यकता होती है क्योंकि वे एक साथ आत्मा के विलग नहीं हो जाते, अपितु क्रम २ से दूर होते हैं। 'नेमिचंद्रिका' में कवि ने सफल निर्जरा की प्राप्ति के लिए आत्मध्यान अर्थात तपश्चर्या को अनिवार्य माना है। तप द्वारा कर्म श्रृखंला छिन्न भिन्न होती है और जीव मुक्तता की ओर बढ़ता है। सारांश में तप हमें चरमबिंदु तक पहुंचाने की सफल सीढ़ी है।

* * * * *

चिंतक कण

- प्रेम का क्षेत्र संकुचित नहीं बल्कि आकाश की तरह विशाल व व्यापक हैं।
- प्रेम किसी वाटिका या कारखाने में उत्पन्न नहीं होता; वह तो ह्रदय का उदगार है।
- प्रेम की सरिता में बहकर ही जन-जन को प्रेम का संदेश देना कारगर होता है।
- प्रेम वाटिका में अनेकों पुष्प खिले हुए है, उस वाटिका में स्वयं जाकर ही उस पुष्प रूपी प्रेम सौरभ से हम जीवन को महका सकते हैं।

• *परम विदुषी महासती चम्माकुंवर जी म.सा*